माधव हाड़ा

अतिव्याप्ति में अलक्ष्य

(भक्ति आंदोलन की पहचान पर पुनर्विचार)

हिंदीभाषी समाज और अकादमिक जगत में भक्ति आंदोलन की जो पहचान और समझ बनी हुई है, वो कुछ हद तक अधूरी है। यह ऐसी पहचान है जो इस देशव्यापी और यह आठ-दस शताब्दियों के विस्तार में फैले हुए बहुभाषिक आंदोलन के वैविध्य को अपने भीतर नहीं समेटती। एक तो यह आंदोलन केवल कबीर, सूर, तुलसी और जायसी तक ही सीमित नही था, जैसाकि हिंदीभाषी समाज जानता है और दूसरे, यह केवल धर्म और लोकोत्तर की ही चिंता नहीं करता, जैसाकि इसके संबंध में प्रचारित है और तीसरे, इस आंदोलन ने सांस्थानिक रूप भी लिया और इसके पंथों-मार्गों ने सामाजिक विकास की प्रक्रिया में सकारात्मक भूमिका निभाई, लेकिन इसको सही अर्थ में पहचानने के उपक्रम बहुत कम हुए। भक्ति आंदोलन बहुत व्यापक, दीर्घकालीन और अनेक विविधताओं वाला आंदोलन था और पार्थिव सरोकारों के साथ इसमें सामाजिक और राजनीतिक चिंताएँ भी खूब और निरंतर रहीं। यही नहीं, मार्गों के रूप में इसके संस्थानीकरण ने सदियों तक सामाजिक परिवर्तन को सकारात्मक दिशा देने का काम भी किया। भक्ति आंदोलन की कोई समग्र पहचान इसके वैविध्य को इसके स्थानिक और पार्थिव सरोकारों के साथ अलग से पहचान कर ही हो सकती है।

भक्ति आंदोलन की व्याप्ति का दायरा, स्थान और समय, दोनों ही दृष्टियों से बहुत व्यापक था। यह एक ऐसा आंदोलन था, जो देश के सभी भागों में फैला। यहाँ तक कि दूर-दराज के दुर्गम क्षेत्रों तक भी इसकी पहुँच और प्रभाव हुआ। दक्षिण भारत के आलवार और नायनार संत-भक्तों के यहाँ पाँचवीं सदी में इसकी शुरुआत हुई। इस दौरान सक्रिय सोलह वैष्णव आलवार संतों की 'तमिल प्रबंधम्' में और तिरसठ नायनार संतों की 'तिरुमरई' में संकलित रचनाएँ सदियों तक इस आंदोलन में खाद-पानी की तरह काम आती रहीं। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य ने इस आंदोलन को दार्शनिक आधार दिया और रामानंद के माध्यम से यह आंदोलन उत्तर भारत में पहुँचा। संपूर्ण उत्तर भारत चौदहवीं से लगाकर सत्रहवीं सदी तक इससे आंदोलित रहा। सत्रहवीं सदी के बाद यह आंदोलन संत-भक्तों की वाणियों और धारणाओं की नई व्याख्याओं और इनके आधार पर पंथों-मार्गों के बनने-फैलने के रूप में चलता रहा। आज भी यह समाप्त नहीं हुआ है। यह कई रूपों में अभी भी जीवित है और भारतीय जनसाधारण की चेतना पर इसका प्रभाव भी निरंतर और गहरा है।

भक्ति आंदोलन की फिलहाल एक देशव्यापी और एकरूप पहचान बन गई है, जो गलत है। देशव्यापी और दीर्घकालीन होने के करण भक्ति आंदोलन के हमारी सामाजिक सांस्कृतिक विविधता के अनुसार कई रूप बने और बिगड़े। ये रूप कुछ समानताओं के बावजूद एक-दूसरे से बहुत अलग-अलग तरह के थे। विडंबना यह है कि इन समानताओं के आधार पर इनके वैशिष्ट्य की अब तक अनदेखी होती आई है। भक्ति आंदोलन की खास बात यह है कि अपनी शुरुआत से इसमें देश भाषाओं को स्वीकृति और मान्यता मिल गई। इससे बड़ा परिवर्तन हुआ—अब जनसाधारण अपने सरोकारों और चिंताओं को अपनी समझ और विवेक के आधार पर कहने-रखने लग गया। इससे भक्ति आंदोलन में

माधव हाड़ा : सुपरिचित विद्वान। अनेक पुस्तकें।
607, मैट्रिक्स पार्क, धनश्री वाटिका के पास, न्यू नवरतन कॉम्प्लेक्स, भुवाना, उदयपुर-313 001, राजस्थान
मो. : +91–9414325302 ईमेल : madhavhada@gmail.com

स्थानिक सरोकारों और चिंताओं को जगह मिल गई। बड़ी चिंताएँ और सरोकार भी इसमें स्थानिक परिवेश और संदर्भ के साथ जुड़कर आने लग गए। स्थान और समय की अपनी खास ऐतिहासिक जरूरतों के अनुसार इसके अलग-अलग रूप अस्तित्व में आए। अब गाँव कस्बों में भी संत-भक्त होने लग गए और उनके पहुँचे हुए होने की कथा-कहानियाँ बन गईं। स्थानिक ऐतिहासिक जरूरतों के अनुसार वाणियाँ उपदेश बनने लगे और पुरानों की नई व्याख्याएँ और विस्तार हुए। भौगोलिक, सामाजिक और सास्कृतिक इकाइयों के अनुसार इन्होंने एक-दूसरे से अलग रूप धारण किए। उड़ीसा में भक्ति आंदोलन की शुरुआत पंद्रहवीं सदी में ही हो गई थी। बाद में वहाँ जगनाथ संप्रदाय अस्तित्व में आया। कालांतर में यह पंथ जब ब्राह्मण-राजा गठजोड़ के अधीन हो गया, तो हाशिए के समाजों में महिमा पंथ लोकप्रिय हुआ। पंजाब में ऐतिहासिक जरूरतों के तहत गुरुनानक के विचारों ने सिक्ख पंथ का रूप लिया। ऐतिहासिक जरूरतों के प्रबल आग्रह के कारण इसमें सामरिकता भी मान्य हो गई। महाराष्ट्र में संत तुकाराम और ज्ञानेश्वर के नेतृत्व में इसने वहाँ की खास जरूरतों के तहत अलग रूप लिया। उत्तरी-पश्चिमी भारत में ब्राह्मणी कर्मकांड और बाह्याचारों के विरुद्ध जांभोजी की शिक्षाओं के आधार पर बिश्नाई संप्रदाय बना और बाद में यह एक पृथक् जाति ही बन गई।

उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन की निरंतरता में था। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' के रूप में यह सूचना तो उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन की पहचान और समझ में शामिल है, लेकिन भाषायी अवरोध के कारण इसके विस्तार में कोई नहीं जाता, जबकि भक्ति आंदोलन की समवेत पहचान के लिए यह बहुत जरूरी है। भक्ति का प्रपत्ति में रूपांतरण सबसे पहले दक्षिण भारत में ही हुआ, जो उत्तर भारतीय कृष्ण भक्ति साहित्य की बुनियाद है। भक्ति आंदोलन के आधार ग्रंथ के रूप में भी भागवत से पहले 'तमिल प्रबंधम्' को जगह दी जानी चाहिए। आंदोलन में वर्ण व्यवस्था और जाति भेद के विरोध की शुरुआत किंतु-परंतु के साथ दक्षिण में हुई, यहीं यह मान्य भी हुआ और यहीं से उत्तर भारत में आया और लोकप्रिय हुआ। आलवार और नायनार संत-भक्तों के जीवन के संबंध में प्रचलित जनश्रुतियाँ आश्चर्यजनक रूप से उत्तरभारतीय संत-भक्तों के संबंध में भी मिलती है। दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन के संबंध में एक खास बात यह है कि यहाँ भक्ति को दार्शनिक आधार भी दिया गया। यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि आचार्यों का योगदान इस लिहाज से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तर भारत में यह कार्य केवल रामानंद ने किया। उन्होंने रामनुजाचार्य की स्थापानाओं में अपने समय की जरूरतों के अनुसार रद्दोबदल भी किए। यह विचारणीय तथ्य है कि भक्ति आंदोलन तो देशभाषाओं में हुआ, लेकिन भक्ति भक्ति की दार्शनिक मीमांसा प्रायः संस्कृत में ही हुई। इस्लाम के भक्ति आंदोलन प्रभाव की चर्चा अक्सर की जाती है, लेकिन दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन पर इसका कोई प्रभाव कभी नहीं रहा। उत्तर भारत में आने के बाद ही इस पर इस्लाम का प्रभाव शुरू हुआ।

भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक और लोकोत्तर की चिंता और सरोकार वाला आंदोलन नहीं था, जैसा कि अक्सर माना जाता है। यह एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक और कुछ हद तक राजनीतिक आंदोलन भी था और इसमें लोकोत्तर के साथ पार्थिव की चिंता भी निरंतर और बहुत सघन थी। भारतीय परंपरा में उपनिवेश काल से पहले तक 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। मध्यकाल और उससे पहले तक अधिकांश सामाजिक-राजनीतिक-गतिविधियाँ धर्म के दायरे के भीतर ही होती थीं। किसी भी सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधि की सामाजिक स्वीकार्यतालिए उसका धर्म के दायरे में होना जरूरी था। 'संस्कृति' शब्द हमारी परंपरा में नहीं था—बल्कि संस्कृति के दायरे में आज, जो भी सम्मिलित है, वो उपनिवेश काल से पहले तक धर्म की व्यापक संज्ञा में शामिल था। यही कारण है कि भक्ति आंदोलन धार्मिक आंदोलन था, लेकिन समाज सुधार, अन्याय-उत्पीड़न का प्रतिरोध, वैयक्तिक कामनाओं की अभिव्यक्ति आदि सब इसके व्यापक दायरे के भीतर आते थे और इसमें होने

के कारण ही स्वीकार्य और मान्य थे। राजनीतिक गतिविधियाँ सत्ता परिवर्तन, विद्रोह आदि को मान्यता भी भक्ति आंदोलन की व्यापक परिधि में ही थीं। कुछ सूफी संतों ने सल्तनत काल में सत्ता परिवर्तन में निर्णायक भूमिका निभाई। वर्ण और जाति की अमानवीय व्यवस्था का समर्थन करने वाली राजनीतिक सत्ताओं के अधीन मनुष्य के साथ होने वाले अन्याय और उत्पीड़न का प्रतिरोध संतों ने ही किया। महाराष्ट्र, पंजाब और दक्षिण भारत में कुछ क्षेत्रीय शासकों को सामाजिक वैधता-मान्यता देने में भी संत-भक्तों की निर्णायक भूमिका रही है।

भक्ति आंदोलन की पहचान केवल भक्ति के दर्शन और शास्त्र के आधार पर नहीं हो सकती, जैसाकि कुछ लोग करते रहे हैं। भक्ति का एक शास्त्र बना, इसके कई वर्गीकरण, व्याख्याएँ और भाष्य हुए, लेकिन लोक में भक्ति का जो रूप लोकप्रिय हुआ, वो इसका 'श्रुत'और सरलीकृत रूप था। भक्ति का यह रूप इसके शास्त्रीय रूप से कुछ हद तक अलग हो गया। भक्ति की व्याख्याएँ और भाष्य इसमें घुलमिलकर स्थानिक ऐतिहासिक जरूरतों के अनुसार नए रूपों में ढल और बदल गए। भक्ति का प्रपत्ति, मतलब शरणागति, प्रेम, समर्पण और एकांत निष्ठा वाला रूप ही सरल होकर लोक मे सबसे अधिक चलन में आया। भक्ति के ज्ञान और कर्म, जो दूसरे रूप थे, वे भी इसी में समाहित हो गए। लोक में पहुँचकर भक्ति के सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव-शाक्त, ज्ञान-कर्म-प्रेम, राम-कृष्ण आदि वर्गीकरण निरर्थक हो गए। भक्ति लोक में आचार-विचार का एक ढंग और कसौटी हो गई। लोक इसको नैतिक मूल्यों को स्रोत समझने लग गए। भक्ति का यह रूपांतरणपरिवर्तनकारी सिद्ध हुआ। वे लोग जो अपनी बात कहने में संकोच करने थे या जिनके पास अपनी बात कहने का माध्यम नहीं था, वे देशभाषाओं में आत्मविश्वास के साथ अपनी बात कहने लग गए। देशभाषाएँ भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गईं। मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, बृज, अवधी, कश्मीरी, उड़िया, बंगला, असमी, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाएँ और कई बोलियाँ देखते ही देखते भक्ति के साहित्य की माध्यम हो गईं। इन भाषाओं-बोलियों में आया कुछ साहित्य इतना उच्च कोटि का था कि इसके संस्कृत अनुवाद हुए। देश के अधिकांश जनसाधारण की सोच और समझ के अभिव्यक्ति के दायरे में आ जाने से भक्ति आंदोलन के साहित्य में सरोकार और मुहावरे का वैविध्य भी आया।

भक्ति आंदोलन के संबंध में यह भ्रांति है कि लोकोत्तर की चिंता की अधिकता के कारण इसमें पार्थिव की चिंता और ऐंद्रिक सरोकर नहीं के बराबर है। यह सही है कि भक्ति आंदोलन में लोकोत्तर की चिंता है, लेकिन लोक इसमें प्राथमिक सरोकार की तरह सब जगह रहा है और पार्थिव और ऐंद्रिक की इसमें अनदेखी कहीं नहीं हैं। यही नहीं, कई जगह तो इसमें पार्थिव का उत्सव तथा अपार्थिव का उपहास भी है। कबीर और उनके समानधर्मा संतों के यहाँ लोक की व्यवस्था और संबंधों को न्याय और युक्तिसंगत करने की चिंता और आग्रह सबसे अधिक है। कृष्ण भक्तों के यहाँ पार्थिव की सराहना के साथ इसका आनंद और उत्सव खूब है। मीराँ सहित कुछ कृष्ण भक्त कवियों की कविता में पार्थिव बहुत सघन और मूर्त है। मीराँ की कविता में तो पार्थिव का सौंदर्य भी है—वर्षा उनके हर दूसरे-तीसरे पद में है। पार्थिव का सौंदर्य रसखान और सूरदास के यहाँ भी हैं। मीराँ सहित कुछ कृष्ण भक्त कवियाँ के यहाँ वैयक्तिक कामनाओं की अकुंठ अभिव्यक्ति और ऐंद्रिक का मुखर-सजग आग्रह भी है। अपार्थिव का उपहास और निंदा भी कृष्णभक्तों ने खूब की। उन्होंने तो इससे भी आगे जाकर अपार्थिव की जमकर खिल्ली लड़ाई। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियों के वाग्वैदग्ध्य के माध्यम से सूर और दूसरे भक्तों ने जिस तरह से पार्थिव का उपहास किया है, उस पर अभी ठीक से विचार नहीं हुआ है। भक्ति के वल्लभ संप्रदाय में राग-भोग-शृंगार का जो आग्रह है, वो अष्टछाप के उसके भक्तों की रचनाओं साफ झाँकता है।

संत-भक्तों की शिक्षाओं-वाणियों के आधार पर कई पंथ-संप्रदाय अस्तित्व में आए और उपनिवेश काल तक भक्ति के विभिन्न रूपों का संस्थानीकरण होता रहा, लेकिन विडंबना यह है कि

भक्ति आंदोलन की पहचान में इन पंथों-संप्रदायों की समाज निर्माण में कार्यकारी भूमिका को महत्त्व कम दिया गया। अध्येताओं ने इनका महत्त्व केवल संतों-भक्तों की रचानाओं के प्रचार-प्रसार तक सीमित कर दिया है। भक्ति के संस्थानीकारण से नुकसान हुआ, लेकिन इसने सामाजिक विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप कर इसको जो नई दिशाएँ दीं, उसके अच्छे नतीजे भी निकले। कबीर, दादू, रैदास, तुकाराम, पीपा, जांभोजी, जसनाथ, दरिया, पलटू, महिमा, घासीदास, तुकाराम, गुरुनानक आदि संतों के अनुयायियों ने अपनी क्षेत्रीय ऐतिहासिक जरूरतों को ध्यान में रखकर कई पंथ-मार्ग कायम किए। इन पंथों के कालांतर में कई विभाजन और विस्तार हुए। पारख, सतनामी, रामस्नेही, शिवनारायणी, महिमा, बिश्नोई, जसनाथी आदि पंथों ने दलित और पिछड़ी जातियों में पहचान और स्वाभिमान की नई चेतना का संचार किया। इन पंथों में से कुछ ने उपनिवेशवादी ताकतों से भी लोहा लिया। भक्ति आंदोलन की समग्र पहचान में इन पंथों-मार्गों के सकारात्मक योगदान का मूल्यांकन बहुत जरूरी है। इन पंथों के अधिकांश अनुयायी-प्रवर्तक भक्ति की शास्त्रीय बारीकियों से अनजान थे, लेकिन अपने क्षेत्र और समय की ऐतिहासिक जरूरतों को अच्छी तरह समझते थे। इन्होंने इसलिए अपने गुरुओं की वाणी की अपने ढंग से व्याख्याएँ कीं और उनको सामाजिक आचरण में चरितार्थ करने की मुहिम चलाई।

भक्ति आंदोलन कोई एकरूप आंदोलन नहीं था। देश के सामाजिक-सांस्कृतिक वैविध्य के अनुसार इसके कई रूप बने-बिगड़े। खास बात यह है कि ये रूप अपने चरित्र में एक-दूसरे बहुत अलग हैं। भाषायी अवरोध के कारण एक क्षेत्र के ये रूप अब दूसरे क्षेत्र की पहचान में होते ही नहीं हैं। आठ-दस सदियों के विस्तार में होने के कारण समय की अपनी छाप भी इन रूपों पर है। जरूरत इस बात की है कि भक्ति आंदोलन की कोई एक ऐसी समवेत पहचान बने, जिसमें इसके सभी रूप, रंग और छापें एक साथ हों।